छठवाँ
कमलादेवी
चट्टोपाध्याय
स्मृति
व्याख्यान
2015

संगीत शिक्षा और महिलायें : हम कहाँ से कहाँ आ गईं ?

मृणाल पाण्डे

सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र

छठवाँ कमलादेवी चट्टोपाध्याय स्मृति व्याख्यान

संगीत शिक्षा और महिलायें : हम कहाँ से कहाँ आ गईं ?

मृणाल पाण्डे

29 अक्तूबर, 2015

सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र
नई दिल्ली

© सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र, 2015

सभी अधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई अंश निदेशक, सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र, नई दिल्ली की पूर्व लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में प्रकाशित नहीं किया जा सकता।

कमलादेवी चट्टोपाध्याय

एक अज़ीम शख्सियत और अपने विद्यार्थी जीवन में भारत की बेताज मलिका (रानी) के रूप में विख्यात कमलादेवी चट्टोपाध्याय सौंदर्य, समझदारी, प्रतिबद्धता और साहस से परिपूर्ण दुर्लभ व्यक्तित्व की स्वामिनी थीं। बचपन से ही उनके व्यक्तित्व में सुन्दरता तथा अपनी माता, दादी मां एवं ब्रिटिश सफ्रागेट मार्ग्रेट कजिन द्वारा प्रदत्त जीवन मूल्यों का समावेश परिलक्षित होता था। सारांश में कहें तो महिलाओं की एक पीढ़ी ने जो मूल्य उनमें समाविष्ट किये, उन्होंने लगभग सात दशकों से अधिक समय तक कमलादेवी जी के जीवन का मार्गदर्शन किया। कमलादेवी चट्टोपाध्याय भारतीय महिलाओं की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो न केवल जेल के अन्दर-बाहर जाती स्वतंत्रता सेनानी थीं वरन् भारतीय महिलाओं को संकीर्ण सामाजिक, आर्थिक सीमाओं से मुक्त करने में भी उत्तरदायी थीं।

इस लम्बी यात्रा में कमलादेवी जी राजनैतिक नेतृत्व के गुण से भरपूर होने के बावजूद शक्ति व पद-लोलुपता से दूर रहीं। कोई भी सार्वजनिक कार्यालय उन्हें आकर्षित नहीं कर सका, बल्कि जनता को दुख-दर्द से राहत दिलाने का उनका मिशन ही उनको प्रिय था। देश के विभाजन के बाद वह महिला राहत आन्दोलन में सक्रिय रहीं। उन्होंने फरीदाबाद शरणार्थी शिविर में अपनी पूर्ण शक्ति के साथ सेवा की।

महात्मा गांधी के सान्निध्य और आर्थिक सशक्तीकरण के सृजन तथा उनकी कर्तव्यनिष्ठा ने भारतीय सहकारिता आन्दोलन को ऊँचाइयाँ प्रदान कीं। उनके अभियान, आंचलिक स्तर पर उनके कार्य और वकालत ने भारतीय हथकरघा एवं हस्तशिल्प को मान्यता प्रदान की। उन्होंने न केवल शिल्पकारों को पल्लवित किया बल्कि उन्हें एवं उनके उत्पादों को सम्मान दिलाया। इन तमाम तथा उनके अन्य कार्यों से आज की पीढ़ी की रुचि में व्यापक परिवर्तन का प्रादुर्भाव हुआ। आज देश-विदेश में बाजार-मूल्य एवं आकर्षण की दृष्टि से हस्तशिल्प क्षेत्र को मान्यता प्राप्त है। अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड तथा अखिल भारतीय हथकरघा बोर्ड जैसी प्रमुख संस्थाओं का अस्तित्व में आना भी उनके सक्रिय समर्थन का ही परिणाम था।

कमलादेवी जी के लिये जीवन - हाथ, दिल एवं दिमाग की अन्तर्निहित तथा दृढ़प्रतिज्ञ प्रतिबद्धता थी। एक महिला होते हुए उन्होंने अपनी युवावस्था में एक रंगकर्मी के रूप में रूढ़िवादिता को चुनौती दी। कला, संगीत, नृत्य, रंगमंच व हस्तशिल्प के प्रति उनका प्रेम और जुनून था। ऐसा कोई अवसर नहीं था, जब उन्होंने दूरदराज की हथकरघा या हस्तशिल्प या फिर गुमनाम रंगमचीय शैली को संरक्षित, उन्नत एवं प्रस्तुत करने के लिये खोज न की हो।

उन्हें एक और अभियान पूर्ण करना था, वह था–हमारी वैविध्यपूर्ण, समृद्ध और जीवंत परम्पराओं को औपचारिक शिक्षा-व्यवस्था के साथ जोड़ना। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक हस्तकौशल, सृजनशीलता, मस्तिष्क की तार्किक बौद्धिकता एवं स्पंदित हृदय में साम्य नहीं, तब तक एक पूर्ण मानव होना संभव नहीं। यही वह दृष्टिकोण एवं स्वीकारोक्ति थी, जिसने भारत सरकार को *सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र* की स्थापना करने के लिये प्रेरित किया।

–कपिला वात्स्यायन

कमलादेवी चट्टोपाध्याय

व्यक्तिगत विवरण:

3 अप्रैल, 1903, मंगलुरु, कर्नाटक में जन्म
29 अक्टूबर, 1988, मुंबई, महाराष्ट्र में देहावसान

मुख्य प्रकाशन:

1. द *अवेकनिंग ऑव इंडियन वुमन,* मद्रास (चेन्नइ), एवरीमेंस प्रेस, 1939
2. *टुवार्ड्ज़ ए नेशनल थियेटर,* औंध पब. ट्रस्ट, 1945
3. *सोशियलिज्म ऐंड सोसायटी,* बांबे (मुंबई): चेतना, 1950
4. *इंडियन हैंडिक्राफ़्ट्स,* नयी दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स प्रा. लि., 1963
5. *कार्पेट्स एंड फ्लोर कवरिंग्स ऑव इंडिया,* बांबे (मुंबई) तारापोरवाला, 1969
6. द *ग्लोरी ऑव इंडियन हैंडिक्राफ़्ट्स,* नयी दिल्ली, इंडिया बुक कम्पनी, 1976
7. *इंडियन कार्पेट्स एंड फ्लोर कवरिंग्स,* नयी दिल्ली, ऑल इंडिया *हैंडिक्राफ़्ट्स* बोर्ड, 1974
8. *हैंडिक्राफ़्ट्स ऑव इंडिया,* नयी दिल्ली, इंडियन काउन्सिल फॉर कल्चरल रिलेशंस, 1975
9. *ट्राइबलिज़्म इन इंडिया,* लेइडन: ब्रिल, 1978
10. *इंडियन एम्ब्रॉयडरी,* नयी दिल्ली, विले इस्टर्न, 1977
11. द *ग्लोरी ऑव इंडियन हैंडिक्राफ़्ट्स,* नयी दिल्ली, इंडियन बुक कम्पनी, 1978
12. *इंडियन विमंस बैटल फॉर फ्रीडम,* नयी दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशंस, 1983
13. *इनर रिसेसेज़, आउटर स्पेसेज़* : **मेमॉयर्स**, नयी दिल्ली, नवरंग, 1986

प्रमुख पुरस्कार एवं मान्यताएँ :

1. 1955 में पद्मभूषण, भारत सरकार द्वारा
2. 1966 में रेमन मैग्सेसे अवार्ड फॉर कम्युनिटी लीडरशिप
3. 1974 में 'रत्न सदस्य', द लाइफटाइम अचीवमेंट अवार्ड, 'संगीत नाटक अकादमी' द्वारा
4. 1977 में यूनेस्को द्वारा प्रमोशन ऑव हैंडिक्राफ़्ट्स पुरस्कार
5. 1987 में पद्मविभूषण, भारत सरकार द्वारा

मृणाल पाण्डे

मृणाल पाण्डे (जन्मः 1946) प्रतिष्ठित गद्यकार, स्तंभकार, पत्रकार एवं मीडियाकर्मी हैं। इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी साहित्य में स्नातकोत्तर की उपाधि ग्रहण की। अंग्रेज़ी साहित्य के अलावा संस्कृत, प्राचीन भारतीय इतिहास, शास्त्रीय संगीत व ललित कला की भी इन्होंने विधिवत शिक्षा ग्रहण की। इलाहाबाद विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा मौलाना आज़ाद कॉलेज ऑव् टेक्नालॉजी, भोपाल में अध्यापन-कार्य किया। 'चोर निकल के भागा', 'जो राम रचि राखा', 'काजर की कोठरी', 'आदमी जो मछुआरा नहीं था', 'शर्मा जी की मुक्ति कथा' नाटक; 'बचुली चौकीदारिन की कढ़ी', 'यानी कि एक बात थी', 'चार दिन की जवानी तेरी' कहानी संग्रह; 'विरुद्ध', 'पटरंग पुराण', 'रास्तों पर भटकते हुए', 'The Daughter's Daughter', ' Devi, Tales of Women in Our Times', 'My Own Witness' उपन्यास आदि अनेक पुस्तकें साहित्य में उनकी सघन सृजनशीलता का प्रमाण हैं। सहज-सरल ढंग से कथा-कथन का निर्वहन तथा सामान्य भाषा का परिपाक उनके द्वारा रचित साहित्य की विशेषताएँ हैं। अपने समय का गहरा संस्पर्श उनकी रचनाओं में मिलता है। इनके लेखों, अनुवादों तथा अंग्रेज़ी पुस्तकों में भी सच्चाइयों का अंतःपक्ष दिखता है। स्त्री-विमर्श पर इनकी प्रमुख पुस्तकें हैं-'ओ ओबेरी', 'बंद गलियों के विरुद्ध', 'स्त्रीः लंबा सफ़र'। स्त्री के अनेक पक्षों पर लेखन के अलावा संगीत व कला पर भी कार्य। 'वामा', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'नंदन', 'कादंबिनी' (पत्रिका), 'हिंदुस्तान (समाचार पत्र) का संपादन किया तथा एन.डी.टी.वी. की वरिष्ठ संपादकीय सलाहकार रहीं। 'प्रसार भारती' की वे अध्यक्ष रहीं। वे आई.डब्ल्यू.पी.सी. की संस्थापक-अध्यक्ष रहीं। दूरदर्शन के प्राइम टाइम हिंदी समाचारों तथा राजनीतिक विश्लेषण व पैनल चर्चाओं पर आधारित कार्यक्रमों का संचालन किया।

मृणाल पाण्डे को भारतीय साहित्य परंपरा की समृद्धि में योगदान हेतु वर्ष 2006 में पद्मश्री सम्मान से अलंकृत किया गया। इन्हें ओमप्रकाश साहित्य सम्मान भी प्राप्त हो चुका है। इस समय राज्यसभा टी.वी. के लिए 'हमारी हिंदी' नामक कार्यक्रम-शृंखला का सृजन कर रही हैं। 'द मीडिया फाउंडेशन' नामक संस्था की अध्यक्ष रहते हुए आजकल स्तंभ-लेखन व साहित्य-सृजन में रत हैं। हमारे समय के विविधवर्णी विमर्श इनकी रचनाओं व लेखों में देखे जा सकते हैं।

संगीत शिक्षा और महिलायें : हम कहाँ से कहाँ आ गईं ?

मृणाल पाण्डे

19वीं सदी के बाद से भारतीय नेताओं या समाजसुधारकों के बीच इसमें कभी भी दो राय नहीं रहीं कि लड़कियों की शिक्षा का सही और व्यापक जुगाड़ किये बिना हमारे लोकतंत्र में किसी भी तरह की टिकाऊ सामाजिक या राजनैतिक क्रांति नहीं लाई जा सकती। फिर भी बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक लड़कियों की साक्षरता के मसले को लिखने पढ़ने की पूरी क्षमता और मनचाही शिक्षा तक पहुँच के मानकों पर बहुत कम जाँचा गया। जो लड़की रामचरितमानस, भागवत या गीता बाँच ले, चिट्ठियाँ लिख सके, उसे सुशिक्षित मान लिया जाता था। इसकी मूल वजह तो पुरुष आधारित परंपरा के बड़े पक्षधर मनु की स्थापना थी, जिसने दलितों की ही तरह स्त्री को भी देवभाषा से अलग-थलग रखा था। फिर मध्ययुग में पर्दानशीनी आई, जो 19वीं सदी तक चालू रही। इसके तहत राज समाज में भले घर की लड़कियों को घर भीतर ही थोड़ा बहुत पढ़ाया जाता रहा । उनको स्कूल या मदरसा भेजना सभी समुदायों में अमान्य बना रहा और लड़कियों के लिये अलग स्कूलों की स्थापना की कोई जरूरत नहीं समझी गई। सहशिक्षा तो अकल्पनीय थी। इस वजह से यह विडंबनात्मक स्थिति बनी कि कविता, मसनवी, संगीत या अन्य कई कलाओं की व्यवस्थित तालीम सिर्फ रूपजीवा तवायफों को ही दी जाती रही। इसने उनको आर्थिक तौर से अच्छी कमाई की राह तो दी लेकिन समाज में वह सम्मान नहीं, जो उनके समकालीन पुरुषों को दिया जाता रहा। उच्च कोटि के गायक-वादक बनने के बाद पुरुष तो सादर उस्ताद या पंडित की उपाधि से मंडित हो जाते थे पर बेहतरीन से बेहतरीन गायिका को आजन्म बाई या तवायफ ही कहा जाता रहा।

यह सही है कि तब भी कुछेक राजघरानों या संपन्न पंडित परिवारों की लड़कियों को पारिवारिक वातावरण की कृपा से ज्ञानलाभ होता रहा पर मोटे तौर से यह उनका दुर्लभ सौभाग्य ही था, कोई परिपाटी नहीं। उधर योरोप में यह युग महिला मुक्ति के संदर्भ में अग्रगामी विचारों का था और महिलाओं की दशा को लेकर वहाँ एक सशक्त सफ्रागेस्ट आंदोलन सर उठा चुका था। उस माहौल से प्रेरित भारत के तत्कालीन अंग्रेज शासकों द्वारा

भारतीय लड़कियों की शैक्षिक दशा में सुधार पर भी (उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में) एक मुहिम चलाई गई, हालाँकि स्थानीय भावनाओं के आहत होने के भय ने इसे उसी हद तक कारगर होने दिया जिस हद तक भारतीय समाज ने छूट दी। इस माने में आज हमें उन अनाम अंग्रेज शासकों तथा ईसाई मिशनरी संस्थाओं का आभार मानना होगा कि उन्होंने देश में लड़कियों की औपचारिक शिक्षा के लिये संस्थान ही नहीं बनवाये, उसके पक्ष में पढ़े लिखे नवोदित मध्यवर्ग के बीच वैचारिक माहौल भी बनाया। मुंबई, चेन्नई तथा बंगाल में महिला शिक्षा की दशा-दिशा के सघन अध्ययन के बाद वुड्स डिस्पैच (1820) नामक रपट से पहली बार खुद को विश्व गुरु मानने वाले भारतीय समाज को पता चला कि वह अपनी लड़कियों की शिक्षा को लेकर कितना विरक्त था। एक हजार लड़कियों में से कुल 7 भारतीय लड़कियाँ साक्षर थीं। पांच में से चार भारतीय गाँवों में स्कूल नहीं था और जहाँ था भी, वहाँ कुल चालीस छात्रों के बीच औसतन एक ही लड़की को बुनियादी शिक्षा नसीब थी। कालेज जा सकना तो बहुत दूर रहा आया ।

बीसवीं सदी में कुछ ब्रिटिश शिक्षाविदों ने लड़कियों के लिये कई स्कूलों की नींव डाली । इसी समय कलकत्ता (अब कोलकाता) में बेथून कालेज और बंबई (अब मुंबई) के एलफिंस्टन कालेज में विशेष कक्षाओं की शुरुआत हुई। मुंबई में स्टूडेंट्स लिटरेरी एंड सायंटिफिक सोसायटी तथा बंगाल में टैगोर परिवार ने भद्र महिलाओं को ललित कलाओं, खासकर गरबा संगीत और हिंदुस्तानी संगीत की शिक्षा दिलवानी शुरू की। फिर भी जैसा कि तत्कालीन नोटिस गवाह हैं, शिक्षक का ज्ञानी के साथ इज्जतदार (रिस्पेक्टेबल) होना अनिवार्य शर्त रही। संगीत की विधिवत और बड़े पैमाने पर खोले गये संगीत महाविद्यालयों में पाठ्यक्रम विशेष के तहत लड़कियों को तालीम मिलना 1920 के दशक में ही शुरू हुआ और इसके लिये महिलाओं को संगीत जगत के दो महान् गुरुओं - पं. विष्णु नारायण भातखंडे और पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर का गहरा आभार मानना होगा। उन्होंने न सिर्फ़ विशेष विद्यालयों की स्थापना की बल्कि सही, सर्वसुलभ और सस्ती संगीत-विषयक पाठ्यपुस्तकें भी लिखीं, जो अब तक अधिकतर बड़े संगीतज्ञ अर्धसाक्षर, अहंकारी या शक्की (कि कोई उनके घरानों की निधि चुरा न ले) होने के कारण नहीं लिख सके थे। 1890 से 1930 के बीच

दोनों गुरुओं ने संगीत मंडलियों, विशेष बैठकों और सम्मेलनों का भी आयोजन किया ताकि जनसामान्य के बीच संगीत के जानकार और रसिक श्रोता तैयार हो सकें। बड़ौदा राजघराने ने भी इस मुहिम में बहुत काम निभाया और बड़ौदा के तत्कालीन शासक सयाजी राव ने ग्वालियर में पहलवान घिस्से मुहम्मद खाँ के नेतृत्व में महिला संगीत स्कूल खुलवाकर क्रांतिकारी शुरुआत कर दी।

इस बीच सरकार ने भी सभी सरकारी प्राइमरी स्कूलों में लड़कियों के लिये भारतीय भाषा माध्यम से शिक्षा पाने के लिये सघन प्रचार और काम शुरू कर दिया। पर बीसवीं सदी के पहले दो दशकों तक तरक्की की रफ्तार मंद रही, हारटोग समिति की रपट बताती है कि महिला साक्षरता दर कुल 10% थी। आजादी के बाद स्त्री पुरुष समतावादी विचारों की छाँह में महिला-शिक्षा की रफ़्तार बढ़ी और महिलाओं को विधिवत कला की तालीम का सिलसिला भी। टैगोर परिवार और मुंबई के कई जानेमाने परिवारों ने अपने घरों में उस्तादों से अपनी महिलाओं को संगीत की तालीम दिलवाना और घरों में उस्तादों तथा बड़ी गायिकाओं की महफिली बैठकें आयोजित करवाना शुरू किया।

निजी इतिहास के आइने में मेरी उम्र की शहरी महिलायें, जिनका जन्म आजादी के साल में हुआ था, आज पीछे मुड़ कर देखें, तो लगता है कि हमारी नानी तथा माँ के जीवन में उनकी गार्हस्थ्य छवि को ही मूल छवि मानने की मानसिकता बदली नहीं थी। मेरी माता शिवानी की तरह शांतिनिकेतन में दुर्लभ उच्च स्तरीय शिक्षा पा चुकी और उभरते मध्यवर्ग की शिक्षिता सुभद्रा कुमारी जी या शिवरानी देवी सरीखी आजादी की वीरांगनाएँ तथा लेखिकाएँ भी 50 के दशक तक बहुत हद तक अमुक की बीवी, बेटी या माँ की ही पहचान से जुड़ी रहीं। हाँ, सुशिक्षित होने का जो सहज अभिमान उनमें था, उसका लाभ आनेवाली पीढ़ी की महिलाओं को मिला।

आज़ादी के बाद जन्मी पीढ़ी की किशोर लड़कियों के समय तक संगीत-कक्षा एक तरह का वोकेशनल कोर्स ही थी, जिससे जुड़ कर शादी ब्याह के बाज़ार में लड़की का मोल कुछ बढ़ जाता था। कक्षा संगिनियों

के नाकाबिलेबर्दाश्त लज्जास्तूपीकरण से विरक्त हो कर मैंने तभी तय कर लिया था कि भले ही बढ़ईगिरी सीख ली जाये लेकिन यह वाहियात सी शिक्षा लेने में कुछ नहीं रखा। बहरहाल जैसे-जैसे उम्र बढ़ी, संगीत की समझ भी बढ़ चली। कलाकार मित्रों के साथ संगीत की प्रणालियों पर कलाकारों की अंतरंग बातचीत सुनी तो गवैयों-बजैयों से जुड़े कई पुराने पूर्वाग्रह भी जाते रहे। घरानेदार गायकी की मेरी पहली गुरु थीं, आगरा घराने की विदुषी कलाकार दीपाली ताल्लुकेदार, जिनके पति डा. दुलाल नाग तब जे एन यू के उपकुलपति थे। उनके जैसा गुरु पाने के बाद मेरी घरानेदार गायकी की विधिवत तालीम किसी संगीत विद्यालय के बजाय गुरु के घर में, आमने-सामने बैठ कर शुरू हुई। दीपाली माँ का घर तत्कालीन वरिष्ठ तथा नवोदित संगीतकारों का मक्का हुआ करता था जहाँ मैंने अल्पवयस श्रुति सडोलीकर और सितारनवाज़ बुद्धादित्य मुखर्जी को पहले-पहल सुना और तब तक दिल्ली में अचीन्हे जीनियस द्वय निवृत्तिबुआ सरनाइक तथा मल्लिकार्जुन मंसूर को भी। इन गुज़िश्ता चार दशकों में खुले आधुनिक दिमाग, परंपरा की गहरी समझ तथा उच्च शिक्षा से संपन्न कुछ विद्वान गुरुओं के निरंतर उत्साहवर्धन के चलते मैंने हिंदुस्तानी संगीत-शिक्षण की पारंपरिक और संस्थागत प्रणालियों और उनके विभिन्न आयामों के बारे में काफी कुछ देखा, सुना और सोचा। बाद में दीपाली दी की ही कृपा से प्रसिद्ध उपशास्त्रीय संगीत गायिका नैना देवी के दरबार से जुड़ने का सौभाग्य मिला और कुछ थोड़ी बहुत समझ उपशास्त्रीय संगीत की दिशा में भी बढ़ी।

संगीत की विधिवत शिक्षा पर लौटें। पहली बात जो साफ दिखती है, यह कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध से बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक संगीत की तालीम अधिकतर सीना ब सीना, यानी आमने-सामने बैठ कर बड़ी बारीकी से, गोपनीयता बरतते हुए दी जाती थी। लगभग हर घराना अपने संगीत की बारीकियों को ही कला का चरम रूप मान कर (चंद प्रतिभावान छात्रों को छोड़ कर) अपने घराने की नायाब बंदिशें अपने ही परिवार के लोगों को बड़े जतन से थमाता था, बाहरियों को यह अवदान नहीं दिया जाता था, उनकी ग्राह्य शक्ति भले ही काफी हो। इससे फायदा तो यह हुआ कि घरानेदार गायकी की खास छवि और बंदिशें अक्षुण्ण रूप में अगली पीढ़ियों को प्राप्त होती रहीं लेकिन इससे एक बड़ा नुकसान यह हुआ कि इतने सारे विविधतामय घरानों की मौजूदगी के बावजूद उनके बीच कलाओं की खुली

अंतर्निर्भरता का न तो कोई पुल बन पाया और न ही सांगीतिक बंदिशें और प्रयोगधर्मिता परस्पर मिलजुल कर नये सुंदर संकरित स्वरूप रच पाईं । औपचारिक शिक्षा की कमी और अंतर्मुखी समाज के कारण कुछेक शिक्षक लगभग अंधविश्वासी होने की हद तक लकीर की फकीरी ही करते चले। विद्वानों की सोहबत कर शास्त्रों से अपना अपरिचय कम करने और बंदिशों की शुद्धता बरकरार रखने के प्रयास के बजाय अधिकतर उस्तादों ने प्रतिभाशाली होते हुए भी संगीत के किसी वैज्ञानिक विश्लेषण को हिकारत से अस्वीकार कर दिया। इससे संगीत में स्वर के साथ साथ शास्त्र की व्यवस्थित तालीम का क्रम टूटने लगा ।

फिर उठा बंदिशों की शुद्धता का सवाल। दक्षिण भारत में संगीत रचना के शब्दों और उनके स्वराधारित रूप को व्यक्त करने के लिये दो शब्द प्रचलित हैं, मातु और धातु। मातु शब्द संभवतः संस्कृत के मातृका शब्द से जुड़ा है और शब्दों की शुद्धता का बोधक है। धातु शब्द स्वरों की शुद्धता का सूचक है। किसी भी बंदिश की सही अदायगी दोनों तत्त्वों मातु तथा धातु की शुद्धता पर ही निर्भर करती है । हमारे यहां खयाल गायकी से जुड़े सदारंग अदारंग या कि अख्तर पिया उर्फ वाजिद अली शाह सरीखे अधिकतर वाग्गेयकार हिंदू हों अथवा गैरहिंदू, भाषाविद् और साहित्य तथा साहित्यकारों से जुड़े थे और जो संस्कृतज्ञ नहीं भी थे, अपने आचार्य कीर्तनकार तथा गायक 'पंडत' मित्रों से शब्दार्थ पर सलाह-मशविरा कर ही रचना को आकार देते थे । भारतीय भाषाओं: संस्कृत और उसके तमाम लोकप्रिय देशज रूपों के सहृदय जानकार होने से उनकी रची मूल बंदिशों में मातु तथा धातु दोनों का संतुलन रहा आया लेकिन जैसे-जैसे प्रतिभाशाली लेकिन अहिंदीभाषी और बोलियों से अपरिचित वाग्गेयकार घरानों की अहंवादी संस्कृति में खुद को कैद कर बैठने लगे, मुखामुखी सिखाई जानेवाली पारंपरिक बंदिशों के स्वरूप में विकृतियां आने लगीं। मूलतः हमारी संगीत-शिक्षा कानोंकान ही दी जाती थी। अतः उसके लिखित रूपों की शुद्धता पर खास ध्यान नहीं दिया जाता था। 'देखा सीखा परखा' यही मूल मंत्र था। इसलिये जब संगीत-शिक्षा का विलायती संगीत-शिक्षा से प्रभावित संस्थागत रूप बन रहा था, तब लिप्यंतरण को लेकर एक अजीब दिक्कत सामने आई ।

मध्यकालीन भारत में जब फारसी थाट और भारतीय राग पद्धति के सहज

मिलाप से खयाल गायकी की शक्ल बनी, औपचारिक लेखन की लिपि या तो फारसी थी या उर्दू। नागरी लिपि में लिखी मानक खड़ी बोली, जिसे फोर्ट विलियम में अंग्रेज बहादुर शासकीय आदेशों या ईसाइयत के प्रचार के लिये तैयार करवा चुके थे, प्रायः पूरी तरह सिर्फ बोलियों में उपलब्ध संगीत के लेखन के लिये लोगों को अनुपयोगी लगती रही। देवनागरी लिपि का मतलब उनके लिये संस्कृत ग्रंथों तक ही सीमित था। भक्तिकाल के कवि ही नहीं, उनके परवर्ती देव, बिहारी, घनानंद सरीखे मध्यकालीन कवियों की हस्तलिखित पोथियाँ भी जो बादशाहों या नवाबों के लिपिकों या उनके अनुयायियों ने तैयार कीं, वे नागरी के बजाय उर्दू या फारसी लिपि में ही थीं। इन भाषाओं में हिंदी, खासकर बोलियों के कई स्वरों या वर्णों के लिये चिह्न नाकाफी होने की वजह से उनके हिज्जे कई बार अस्पष्ट बन गये हैं। सही तरह से शब्दों की आवृत्ति करने वाली प्रतिलिपियों के अभाव में एक और दिक्कत जुड़ी। वह थी निरक्षर या अर्धसाक्षर उस्तादों या अहिंदीभाषी गुरुओं द्वारा सिर्फ सुन कर हृदयंगम की हुई दुर्लभ सांगीतिक बंदिशों की लयनिबद्ध अदायगी, जिसमें शब्द कई बार जैसे हैं, उससे भिन्न सुनाई देते थे और उसके बाद जब खुद उस्ताद के बजाय लिपिक या छात्र याद ताज़ा कर उनको कागज़ पर उतारते तो कुछ का कुछ बन जाने का खतरा रहता ही था। यह मान्य सचाई है कि फारसी या उर्दू में अवधी, ब्रज या पुरबिया सरीखी बोली से बंदिश को पूरी शुद्धता से लिप्यंतरित करना टेढ़ी खीर है क्योंकि इनमें हिंदी की कई बोलियों में इफरात प्रयुक्त होनेवाले ग् या ट्, या ड् या ढ सरीखे वर्णों के लिये अलग ध्वनि चिह्न नहीं हैं। *नस्तलिख* सुलेखन से इसको दूर करना संभव तो था पर याद रखने की बात यह है कि अधिकतर बंदिशें संसाधनों के अभाव का मारा या तो किसी प्रतिस्पर्धी घराने का कोई नौसिखुआ छात्र या संगीत प्रेमी लिपिक चोरी छुपे इनको कागज पर उतारता था, किसी सुलझे बहुपाठी बहुभाषाविद् से मशविरा न के बराबर ही किया जाता था। बाद को उसका लगभग उसी तरह के नौसिखुओं के किये हिंदी में लिप्यंतरण से सही पाठ की गुत्थी खुलती नहीं, और भी उलझ जाती है। धातु के प्रवीण कई गायकों द्वारा मातु में आ गई विसंगति से ध्यान हटाने के लिये कहा जाने लगा कि संगीत में शब्दों का सिर्फ आलंबन लिया जाता है, उनका महत्त्व खास नहीं । मूल महत्त्व की बात तो स्वरों के क्रमिक विकास की है। 'चतुर पंडित' (भातखंडे जी) ने, जब वे अपनी जानी मानी क्रमिक पुस्तकमाला के 6 खंडों के लिये बड़े घरानों की बंदिशों का संकलन करने निकले, तो यह कमी बार बार नोट की और अपनी

ग्रंथावली में बंदिशों के विकृत रूप के यथासंभव परिमार्जन का प्रयास किया लेकिन बीसवीं सदी की शुरुआत तक लिखित बंदिश से कहीं अधिक प्रामाणिक मौखिक रूप से सीखी बंदिशें ही रहीं। घरानों के बड़े खलीफाओं के प्रति अंधभक्ति के चलते परवर्ती चेले भी उनमें किसी शाब्दिक बदलाव से बचते रहे। गुरु के प्रति अंधभक्ति की वजह से गलत-सलत पाठ का हू ब हू अनुसरण हुआ और कई छात्रों की शाब्दिक संपदा सीमित रही। साथ ही मंचीय अदायगी में संगीत के शांत निर्विकार चेहरे से गाने की परंपरा भी जाती रही और घराने के बड़े गुरु की भंगिमाओं की कुछ नैसर्गिक विकृतियाँ उन्होंने भी अपना लीं। गुरु या उस्ताद के गिर्द श्रद्धा का वलय और शागिर्दी से बाहर कर दिये जाने का आतंक छात्रों में तब बहुत गहरा था और उनसे जिज्ञासा होने पर कोई कठिन प्रश्न पूछना अश्रद्धा का पर्याय मान लिया जाता था। खुद अपने छात्रों के मनोविज्ञान को समझकर बहुत कम गुरु या उस्ताद उनको सिखलाते थे ।

जब स्वयं की शिक्षा का परिष्कार न हुआ हो तो व्यक्ति तबीयतन कुछ शंकालु बन जाता है। बड़े-बड़े गुरु या उस्तादों में भी कई अपने छात्र की अन्य घरानेवालों की सोहबत में देखे जाने की खबर पा कर उत्तेजित होकर उन पर गालियाँ बकने और कई बार पीट-पाट डालने के वाकये मशहूर हैं। कई बार वे अनुशासनात्मक होते थे पर कई बार सिर्फ गुरु की निजी झक या कुंठा से उपजते थे। लिहाजा मेधावी छात्र कई बार शिक्षकों से ज़रूरी सवाल पूछने या मौका मिलने पर भी अन्य घरानों की सांगीतिक मालूमात अपनी गायकी में शामिल करने में झिझकते-डरते थे और बात बहुत कष्टकर हो चली तो संगीत छोड़ देते थे। इस माहौल में मातु तथा धातु की शुद्धता और वैज्ञानिक शोध के प्रति अकुंठ आग्रही पं. भातखंडे देश भर का भ्रमण कर उस्तादों और उनके आश्रयदाताओं से लगभग 1800 बंदिशें जमा कर सके, यह एक चमत्कार ही था। इस दौरान संगीत की कतिपय भीतरी अशुद्धताओं पर सवाल या तर्जनी उठाने की वजह से उनको बार-बार अपने शत्रुओं ही नहीं, मित्रों और उस्तादों की भी बड़ी गहरी कटूक्तियों तथा आलोचना का शिकार बनना पड़ा। मूलतः उन्होने मराठी में ही यह सब लिखा और फिर हिंदी नागरी लिपि में । यह एक विलक्षण काम वे कर गये, जिसके लिये संगीत प्रेमी उनके चिर ऋणी रहेंगे। आलोचना का सारा जोखिम झेल कर भी उन्होंने पहले-पहल यह सवाल उठाया कि अच्छी

गायकी के लिये सिर्फ गाने की तैयारी करवाना अपर्याप्त है। हर गायक को संगीत की तालीम के साथ इस कला के पारंपरिक नियमानुशासनों की भी पूरी और सही सही जानकारी मिलनी चाहिये। मात्र स्वर के परिमार्जन और राग-रूप (धातु) की शुद्धता पर ही बल देने से संगीत की अदायगी की मूल पवित्रता खंडित होती है। कई बार लोकप्रियता या बड़े आश्रयदाता को रिझाने के चक्कर में गायकी को नाहक चमत्कारप्रधान बनाने से अच्छे गायकों को यथासंभव बचना चाहिये। पं. भातखंडे बुद्ध की तरह संगीत के छात्रों में स्वस्थ प्रश्नाकुलता को प्रोत्साहित करने के पक्षधर थे ताकि मूर्छना तथा ग्राम जाति जैसे बिंदुओं पर परंपरा के शुद्ध रूप से वे परिचित तो रहें लेकिन यह भी समझें कि कालक्रम में गायन बदलता है और इसमें प्रतिभाशाली गायक वादकों की स्वस्थ प्रयोगधर्मिता का कितना महत्त्व होता है।

पर यह एक विडंबना ही कही जायेगी कि जिस समय भातखंडे जी और पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर रागदारी संगीत को शहरी मध्यवर्ग के बीच प्रचारित करने और उसकी शुद्धता बहाल कर समाज को सुसंस्कृत बनाने की प्राणपण से कोशिश कर रहे थे, उस समय भी आम भारतीय समाज में शास्त्रीय संगीत के प्रेमियों और शिष्ट समाज के प्रतिनिधियों में से कुछ अपवाद छोड़ कर शेष रजवाड़ों या ताल्लुकेदारों की महफिलों या कोठों में गाने बजानेवालों की बिरादरी को लेकर कोई गहरा लगाव या आदर भाव नहीं बन सका था। जब से ध्रुपद गायकी नाना सामयिक वजहों से मंदिरों के आँगन से निकल कर रजवाड़ों के संरक्षण में आ गई और खयाल गायकी का विकास हुआ तो नये आश्रयदाताओं के रुचि-अनुसार संगीत की अदायगी के रूप और बंदिशों के बोलों में भी भक्ति की बजाय शृंगार रस का परिपाक ही अधिक दिखाई देने लगा। इस बदलाव के बारे में लोकधारणा को लखनऊ के दरबारी संगीत व वाजिद अली शाह की चलाई नायाब रहस परंपरा से जुड़े पतनशील आचरण के किस्सों ने और गहरा किया और काफी समय तक उपशास्त्रीय संगीत त्याज्य धरोहर बना रह गया ।

दरअसल संगीत तथा नृत्य के भारी मर्मज्ञ वाजिद अली शाह एक विभक्त मन वाले युग के प्रतिनिधि थे। एक तरफ तो उनका पारंपरिक कलारूपों से गहरा लगाव और अंतरंग परिचय था, दूसरी तरफ बार-बार ब्रिटिश सरकार

द्वारा अपमानित और सत्तावंचित किये जाने से उनके जीवन में एक पतनशील वृत्ति भी आ चली थी। उसके चलते उनका हरम कमउम्र तवायफों, बिगड़ेदिल रईसों, कुटनियों और आपत्तिजनक किस्म के भाव विलास का भी केंद्र बना। उनके लिये जब 'अमानत' ने कथक और रहस संगीत के मेल से ऑपेरा मूलक इंदरसभा लिखी तो उसमें वे खुद इंदर राजा के मुख्य रोल में कमसिन परियों से रास रचानेवाले बन कर उतरे। इससे उनको हटाने की अंग्रेज बहादुर की कोशिशों को नया बारूद मिल गया लेकिन बहुत कम लोग समझ सके हैं कि इसके साथ ही संगीत नाटकों का एक नया दौर भी शुरू हो गया जिसमें पेशेवर नाचनेगानेवालियों का प्राधान्य भले था लेकिन बाद में इसी से शहरी पारसी थियेटर और ग्रामीण नौटंकी जैसी नाट्य परंपरायें उपजीं। छोटे शहरों तथा गाँवों में कलारूपों को नये संरक्षक मिले और नाटककारों, नटों, उस्तादों तथा बाजीगरों के साथ लखनऊ से उजड़ी सैकड़ों पेशेवर गायिकायें भी भुखमरी से बच सकीं।

बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक आते-आते 'देखा सीखा परखा' का पुराना गुरु-शिष्य परंपरा का फॉर्मूला गायब हो चला था और अंग्रेजों की तत्कालीन विक्टोरियाई नैतिकता के असर से संगीत मध्यवर्गीय लोगों और घरों की महिलाओं की नजर में किसी खास मौके पर रईसी साबित करने का माध्यम या सीधे पतनशील विलासिता का पर्याय बन बैठा। विद्वानों और सुसंस्कृत समाज में पैठ कम होते जाने से शास्त्रीय संगीत की दुनिया अंतर्मुखी, तर्कविमुख और घरानों की आपसी कटुता से कमजोर बनने लगी ।

महाजनो येन गत: स पंथा। जैसा बड़े लोग करें, वही समाज की रीति बन जाती है। बड़े घरानों की देखादेखी तत्कालीन घरानों के बड़े संगीतज्ञ भी महिलाओं को दोयम दर्जे का सदस्य मानते थे। अत: सिर्फ़ बेटों, दामादों, भाई, भतीजों को ही विधिवत घरानेदार गायकी की तालीम दी जाती थी। औरतों में सिर्फ बड़ी फीस देने की क्षमतावाली तवायफें ही उनकी शागिर्दी, वह भी बहुत अनुनय-विनय के बाद पा सकती थीं । घर की बहू-बेटियाँ अलबत्ता पुरुषों का गायन सुन-सुन कर काफी जानकार बन जातीं थीं और कई बार उनकी मार्फत घरानेदार गायकी क्रमश: संकरित होती रही । मसलन ग्वालियर तथा रामपुर घरानों से अन्य बड़े सांगीतिक घरानों में ब्याही गई उस्तादों की बेटियाँ अपने साथ बतौर दहेज मायके की बंदिशें भी ले गईं,

जिनको ससुराल जा कर घर के पुरुषों को उन्होंने सोने की पोटली की तरह या तो खुद थमाया या ससुराल आने पर उनके पिता से चिरौरी कर उन्हें जामाता को सामने बिठा कर उसे सिखवा कर कृतार्थ किया। ऐसे पति अपने अवसर तथा अपनी बीवियों को इस नायाब भेंट की वजह से घर-भीतर खासा मान देते थे ।

मंच या महफिलों में प्रदर्शन उस्तादों की बहू-बेटियों के लिये पूरी तरह वर्जित बना रहा। प्रसिद्ध तबलावादक उस्ताद अहमदजान थिरकवा की बेटी के लिये कहा जाता है कि पिता की कई बंदिशें और उनके निकास का ढंग उनको कंठस्थ रहा आया। बनारस के उस्ताद मोघू खाँ की पत्नी ने तो पति की मृत्यु के बाद पति की धरोहर बाकायदा उनके कुछ प्रतिभाशाली हिंदू, मुस्लिम छात्रों को सौंपी । लखनऊ के खलीफा बड़े मुहम्मद खाँ की बेटियाँ (छोटी बीबी तथा मोटी बीबी) भी नवाबी घरानों के हरम में संगीत की महफिलों में युग के प्रथानुसार कमर में तबला बाँध कर बजाती थीं फिर भी उत्कृष्ट तबलावादकों की जमात में उनका नाम नहीं आता। कभी पर्दानशीनी तो कभी विशुद्ध ओछी मानसिकता के कारण शास्त्रीय संगीत में पुरुषों के अवदान की जितनी चर्चा हुई है उतनी अनेक उन महिलाओं के अवदान तथा कुर्बानियों की नहीं जिन्होंने संगीत की मर्मी जानकार होने के बावजूद सामाजिक आग्रह मान कर खुद को घर गृहस्थी में पूरी तरह होम कर दिया। बहुत कम लोगों को मालूम है कि ग्वालियर के प्रसिद्ध ठुमरी गायक और हारमोनियम को शास्त्रीय संगीत में मान्य दर्जा दिलानेवाले भैया गणपत राव, महाराजा गवालियर की प्रेयसी चंद्रभागा देवी के सुपुत्र थे जो अपने समय की नामी गायिका थीं। भैया गणपतराव की शिक्षा से ही मौजुद्दीन सरीखे अप्रतिम ठुमरी गायक तैयार हुए जिन्होंने कई बड़ी ठुमरी गायिकाओं को सिखाया लेकिन चंद्रभागा देवी का नाम काल के गाल में खो चुका है ।

आज हम जिन भव्य बड़ी गायिकाओं : केसरबाई, गंगूबाई, मुश्तरी बाई, छोटी मैना, बड़ी मैना, बड़ी मोतीबाई, बेगम अख्तर या गौहरजान का गाना पुराने साढ़े तीन मिनटिया रिकॉर्डों पर सुन कर विभोर होते रहते हैं, वे सब डेरेदार तवायफें थीं जिनको पैसे या अपने मालदार पुरुष संरक्षक के रसूख के बल पर ही बड़े घरानेदार उस्ताद गायकों से संगीत की शिक्षा पाने का सौभाग्य मिल पाया था। अफसोस, कि गुरु भी युग की मानसिकता के परे अक्सर नहीं होते। इसलिये

कुछ अपवाद छोड़ कर अधिकतर बड़े गायक व्यक्तिशः इन गायिकाओं का गायन सराहने और शिष्यत्व के बदले उनसे बड़ी फीस वसूल करने के बाद भी अक्सर अपनी इन महिला शिष्याओं से काफी कुछ हिकारतभरा बरताव करते रहे। अपने पट्ट शिष्यों में उनकी गिनती वे जब करते भी तो चलते-चलते ही। किराना घराने के नामी उस्ताद और संगीत जगत की एक दुर्लभ प्रतिभा अल्लादिया खाँ का उदाहरण लें। उनको कोल्हापुर में राज्याश्रय इस शर्त पर मिला था कि वे शाहू महाराज की मुँहलगी प्रिय गायिका कृष्णाबाई की बेटी तानीबाई को तालीम देंगे। यह उन्होंने किया। अपने दो बेटों मंजी खाँ और भुर्जी खां सहित तमाम भास्कर बुआ बखले, निवृत्ति बुआ जैसे हिंदू शिष्यों को भी अकुंठ रूप से रागदारी गायन में दीक्षित किया पर लिंगगत भेदभाव से वे भी परे नहीं थे। मुंबई के जानेमाने रईस निवेशक सेठ विट्ठलदास की रक्षिता केसरबाई को भी उन्होंने सिर्फ इसीलिये संगीत सिखाना स्वीकार किया कि सेठ के उस्ताद पर अहसान थे और केसरबाई खुद उन्हें मोटी से मोटी फीस देने तथा उनकी तमाम अपमानजनक शर्तें मानने को तत्पर थीं। केसरबाई असंदिग्ध रूप से दक्ष गायिका थीं फिर भी उस्ताद उन से ताउम्र खिंचे-खिंचे दुराव-छिपाव की ही नीति बरतते रहे, जबकि गुरु के इच्छानुसार 1946 में गुरु की मृत्यु तक केसरबाई ने कोई सार्वजनिक कार्यक्रम नहीं दिया। बेलगाँव की गरीब गानेवालियों के एक निषाद परिवार में जन्मी गंगूबाई हंगल दूसरी बड़ी गायिका थीं, जिनको गानेवालियों की बेटी होने की वजह से शुरू में काफी अपमानजनक स्थितियों से दो चार होना पड़ा।

इस तरह के पूर्वाग्रहग्रस्त और जकड़नभरे माहौल में बीसवीं सदी का दूसरा दशक आया और धीमे-धीमे बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र के मध्यवर्ग के ब्रह्मो समाज, आर्य समाज और प्रार्थना समाज सरीखे सुधार आंदोलनों ने जाति प्रथा और स्त्री शिक्षा तथा वेश्याओं की दशा को लेकर एक उदार नई मानसिकता के बीज बोना शुरू किया । वैसे तो बड़ौदा के उदारचेता शासक सयाजीराव ने बीसवीं सदी की शुरुआत में ही (अपने मित्र और छावनी के अंग्रेज बैंडमास्टर की सलाह से) राज्य में लड़कियों के लिये संगीत की कक्षाएँ शुरू करवा कर शिक्षक के तौर पर आगरा घराने के उस्ताद फैयाज खाँ साहिब तथा किराना घराने के उस्ताद अब्दुल करीम खाँ साहिब सरीखे गुरुओं को प्रचुर वेतनमान देकर उनसे जोड़ा था पर भीतरखाने बड़े गायक अब भी अंग्रेजी चाल की नोटेशन पद्धति को नाकाफी मानते रहे । संस्थागत

तरीके से घरानेदार गायकी सिखाना वे पारंपरिक (गुरु-शिष्य) तालीम की तुलना में अच्छा नहीं समझते थे । शुरू में उनको हिचकिचाते देख कर सयाजी राव ने अपने दरबार के एक कला प्रशासक को सार्वजनिक संगीत स्कूल की मार्फत भले घर की महिलाओं को व्यवस्थित तरीके से नोटेशन पद्धति से बेझिझक सिखाने की व्यवस्था की । यह कलाप्रशासक एक पहलवान संगीतज्ञ मौलाबक्श घिस्से खाँ थे जो राज्य की सरपरस्ती में पल रहे पेशेवर गायक गायिकाओं को भर्ती कराने, फिर उनका मेहनताना तय और योगदान की समीक्षा करने के लिये एक पेचीदा प्रशासकीय व्यवस्था बना रहे थे । शुरू में मौलाबक्श भी उन बड़े उस्तादों, पेशेवर गायिकाओं के उपहास और गुस्से का शिकार बने जो उनसे कई वजहों से नाखुश थे लेकिन राजा साहब का हाथ सर पर था, बात बढ़ी नहीं । अब अक्सर गरीबी से जूझते कई बड़े उस्ताद भी रुपया नगदी भाँप कर बेमन से इस उपक्रम में शामिल होने लगे ।

जब एक बार बड़ौदा ने संगीत शिक्षा को मध्यवर्गीय घरों तक ले जाने की व्यवस्था तथा जमीन तैयार कर के दिखा दिया कि भारतीय मध्यवर्ग इस शिक्षण-पद्धति को सराहता है तो अन्य बड़े शहरों तथा राजदरबारों में भी शिक्षण संस्थायें चालू होने लगीं। गौरतलब है कि अब तक कश्मीर से तमिलनाडु तक पूरे भारतीय राज समाज में सुधारवाद तथा भारतीय स्वदेशी आंदोलन की बयार बहने लगी थी। बंगाल के नामी टैगोर परिवार की महिलाओं का सभा सोसायटी में गायन (कांग्रेस के कोलकाता सम्मेलन में टैगोर की भतीजी सरलाकुमारी ने पहली बार जन गण मन गाया था) तिलक, गोखले तथा ज्योतिबा' फुले के राष्ट्रवादी और स्त्री शिक्षा समर्थक विचारों तथा बापू की प्रार्थना सभाओं का संगीत का लगातार श्रवण मध्यवर्गीय मानसिकता को बदल रहा था। भक्ति-गायन की मार्फत संगीत पर लगे बाजारीपने का मिथ्या कलंक काफी हद तक मिट चला और भले घरों में पुनर्स्थापना में बापू की प्रार्थना सभायें बड़ा कारक तत्त्व बन गईं। राष्ट्रीय पहचान से जुड़ चुके शास्त्रीय संगीत को अपने घर के बच्चों को सिखाने के लिये मुंबई के नवोदित शहरी मध्यवर्ग ने अब सहर्ष स्वीकृति देना शुरू किया ।

इस मोड़ पर पारंपरिक हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत को घरानेदार गायकी में

सिमटी सीमित गुरु-शिष्य परंपरा से निकाल कर उसे करोड़ों मध्यवर्गीय घरों (खासकर महिलाओं) तक पहुँचाने में दो संगीत शास्त्रज्ञों: पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर (1872-1945) और पं. भातखंडे (1860-1936) का अविस्मरणीय योगदान रहा। 1922 में पं. भातखंडे ने अपने एक मित्र राय उमानाथ बाली को लिखे अपने पत्र में इस बात को लेकर गहरी चिंता जताई थी कि हिंदुस्तानी संगीत के पुराने संरक्षकों की खाली जगह भरने के लिये नये लोग या संस्थायें सामने नहीं आ रही हैं और तमाम बड़े उस्ताद तथा गुरु एक-एक कर अतीत बन रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि जब तक देशवासी इस उदात्त राष्ट्रीय धरोहर को लेकर जागें, देश में पाँचवें छठे दर्जे के संगीतकार ही बच रहे हों। खुद वे नजीर खाँ साहब और जयपुर के आशिक अली साहब के गंडाबंद शागिर्द भी थे। पत्नी-पुत्र की असामयिक मृत्यु के बाद 40 वर्षीय भातखंडे जी ने अपना शेष सारा जीवन संगीत-प्रचार तथा पाठ्य पुस्तकें तैयार करने को अर्पित कर दिया। इस संदर्भ में उन्होंने सारे देश का भ्रमण कर, हर राज्य में विराजमान पारंपरिक संगीतज्ञों से ध्रुपद तथा खयाल गायकी की तमाम पुरानी बंदिशों को संकलित करने, संगीत की शास्त्रीय बारीकियाँ बड़े उस्तादों गुरुओं से लेने और उनको (पश्चिमी पद्धति के स्टाफ नोटेशन द्वारा) लिपिबद्ध करने का महती बीड़ा उठाया। साथ ही मुंबई की गायन उत्तेजक मंडली के शिक्षक भी वे बन गये। उनके अनुरोध से मुंबई की म्यूनिसपलिटी ने 1917 में प्राइमरी कक्षाओं में भी बच्चों को संगीत विषय सिखाना शुरू कर दिया। रागदारी संगीत को आसानी से समझाने को भातखंडे ने 'हररंग' उपनाम से कई लक्षण गीत रचे जिनमें रागों के आरोह, अवरोह तथा चलन उल्लिखित हैं। 300 के लगभग स्वरमालिकायें बनाई और हिंदुस्तानी संगीतपद्धति पर आधिकारिक ग्रंथ लिखे। यह सभी संगीतकारों में लोकप्रिय तथा मान्य हुए और आज भी लाखों शिक्षकों और छात्रों द्वारा लगातार प्रयोग में लाये जा रहे हैं।

बदलते समय में पारंपरिक संगीत-शिक्षा में बदलाव की जरूरत समझने समझाने के लिये के लिये बड़े संगीतविदों को जमा कर भातखंडे जी ने 1916 में बड़ौदा और 1918 में दिल्ली में दो बड़े संगीत सम्मेलन किये जिसमें संभवत: पहली बार हर बड़े घराने के प्रतिनिधि आये और रागदारी संगीत पर खुल कर चर्चा तथा विचारों का आदान प्रदान हुआ। इसके बाद लखनऊ के मैरिस कालेज के अलावा मध्य भारत में भी संस्थायें बनाने का

सिलसिला राजे-रजवाड़ों की मदद से शुरू हुआ । 1916-17 में हीरजी भाई डॉक्टर की मदद से उन्होंने बड़ौदा में राजकीय संगीत विद्यालय की स्थापना की जिससे अता हुसैन खाँ, उस्ताद फैयाज खाँ साहिब और निसार हुसैन खाँ साहिब जैसे गुरुओं को भी जोड़ा । 1917 में उनसे ग्वालियर महाराजा माधवराव सिंधिया ने अपने राज्य में भी एक वैसा ही स्कूल खोलने का अनुरोध किया । 1918 में राजा भैया पूँछवाले के नेतृत्व में वहाँ भी 1918 में माधव महासंगीत विद्यालय की स्थापना हुई। आज यह जीवाजी विश्वविद्यालय का अंग है।

हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की लुप्तप्राय बंदिशों और रागदारी संगीत का तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक विवेचन करने के भातखंडे जी की क्रमिक संगीत पुस्तकमालिका तथा हिंदुस्तानी संगीत पद्धति विषयक आधिकारिक ग्रंथ जब हिंदी, गुजराती तथा मराठी में छपे तो संगीत की दुरूहता कम हुई इनमें संगीत की शाखा को पल्लवों और उनको जड़ों से जोड़ते हुए 'पारिजात रत्नाकर' जैसे पुराने ग्रंथों की उपादेयता भी साबित हो रही थी। साथ ही वे सस्ती तथा सहज उपलब्ध भी थीं। गुरुद्वय ने समसामयिक तथ्यों की वैज्ञानिक बुनियाद पर उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के संगीत के लोकमान्य स्वरूपों में समयानुसार बदलाव लाकर उसे आगे ले जाने की राह भी दिखाकर संगीत-प्रेमियों को उनका चिरऋणी बनाया है। लखनऊ 19वीं सदी तक संगीत का गढ़ रहा पर 20वीं सदी में वहाँ तमाम बिखराव था। यह तब टूटा जब 1926 में भातखंडे जी ने बंधुद्वय राय उमानाथ बाली तथा राय राजेश्वर बाली के साथ मिल कर लखनऊ में संगीत महाविद्यालय की नींव रखी, जिसका नाम प्रांत के तत्कालीन गवर्नर सर विलियम मैरिस के नाम पर रखा गया-मैरिस कॉलेज। 1966 में प्रांतीय सरकार ने नाम बदल कर रखा-भातखंडे संगीत संस्थान। आज यह विश्वविद्यालय की मान्यता पा चुका है ।

पं. भातखंडे की ही तरह महाराष्ट्र के एक कीर्तनकार परिवार में जन्मे पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर ने भी भारत के पारंपरिक संगीत की धारा में नवोन्मेषी तत्त्वों को जोड़ा। रागदारी पर आधरित सूर, मीरा, तुलसी, कबीर, नरसी मेहता, दादू दयाल, नानक सरीखे संत कवियों के बनाये भक्ति संगीत की सूखती शास्त्रीय जड़ों का सिंचन कर उन्होंने शास्त्रीय संगीत के लेखन-पद्धति तथा भावनात्मक पक्ष को सँवारा और अपने पट्ट शिष्यों की

मदद से उस संगीत को बापू की सभाओं से आम जन के हृदय तक ले गये। 1907 में जब तिलक जेल गये तो उन्होंने 'पगड़ी सँभाल जट्टा' और 'सारे जहाँ से अच्छा' रचनाओं को संगीत में ढाल कर देशभक्ति के लोकप्रिय गानों को शक्ल दी। 1915 की इंडियन नेशनल कान्फ्रेंस में उन्होंने इनके अलावा वंदे मातरम् गाया । 1918 से 1926 तक सालाना संगीत संगोष्ठियाँ आयोजित करके उन्होंने भातखंडे जी का काम आगे बढ़ाया, संगीत के साजों के स्वरूप और उपयोग पर कार्यशालायें आयोजित कीं और लगातार खुल रहे संगीत विद्यालयों के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये भी व्यवस्था कराई ।

पच्छिमी तर्ज के नोटेशन के लिये इन गुरुद्वय को कोसनेवाले आज भी अंततः पं. भातखंडे तथा पं. पलुस्कर के ही ग्रंथों में ज्ञान खोजते हैं और पं. पलुस्कर के भक्ति संगीत के असर को महज हिंदुओं से जोड़कर उसे धर्म सापेक्ष बताने वाले भी तब निरुत्तर हो जाते हैं, जब हम संगीत के क्षेत्र में उनको अकृपण भाव से तमाम हिंदू मुसलमान उस्तादों के दिये सहयोग की याद कराते हैं। कुछेक आलोचकों ने राज दरबारों में पं. पलुस्कर तथा पं. भातखंडे जी की भागीदारी तथा छात्रों द्वारा ब्रिटिश राष्ट्रगान या वंदे मातरम् गवाने और उनकी शिक्षण-शालाओं में कठोर अनुशासन की भी खूब कड़वी निंदा की है लेकिन उस समय पतनशील सामंती समाज और घरानादारी की संकीर्ण मनोवृत्ति से उबार कर संगीत को वृहत्तर समाज में स्वीकार्यता दिलवा सकने में राजकीय संरक्षण और अनुशासन दोनों का कितना केंद्रीय महत्त्व बनता था, इसे कोई नहीं नकार सकता। जब आजादी आंदोलन ने लय ताल पकड़ी तो पलुस्कर भी अपने छात्रों सहित स्वदेशी आंदोलन से जुड़ गये । ग्वालियर का माधव संगीत महाविद्यालय उनकी ही प्रेरणा से बना । 1932 में उनकी मृत्यु के साल भर बाद उनके तराशे प्रतिभावान गायक छात्रों: नारायण राव खरे, पं. कशालकर, शंकरराव व्यास, वी एन पटवर्धन तथा कुछ अन्य ने अहमदाबाद में गांधर्व महाविद्यालय मंडल की नींव रखी जो पं. पलुस्कर के सपनों की संस्थाओं का 1946 में अखिल भारतीय केंद्र बना और आज तमाम महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेजों तथा ग्रंथों का संग्रहालय भी है। इन में ही 1911 में महिलाओं के लिये पं. विष्णु दिगंबर जी द्वारा खास तौर से प्रकाशित 16 पन्ने की 'महिला संगीत' नामक पुस्तिका भी है। दो आना मूल्य की इस लघुकाय पुस्तक से भक्ति संगीत के मार्फत संगीत के सुंदर सुरुचिपूर्ण और सही स्वरूप संगीत की किताबों से वंचित रखी गई घर की महिलाओं के बीच न जाने कितनी

जानकारी जा पहुँची। नारीवादी दृष्टि से पं. पलुस्कर की तैयार की गई यह नितांत अहिंसक गांधीवादी छलांग असूर्यंपश्या महिलाओं को संगीत की वृहत्तर दुनिया से जोड़नेवाली एक कूटनीतिक फतह थी । लोग जो कहें पर यह हम नकार नहीं सकते कि महिलाओं की रखवाली कर रहे कट्टरपंथी पुरुषों की जिस व्यूहरचना को कानूनी धमकी या महज कागज़ी सुधारवाद के सहारे भेद पाना असंभव था, उसे भक्ति की पीठ पर सवार संगीत ने बिना शोरोगुल कर दिखाया ।

एक बार जब हमारे शहरी मध्यवर्ग ने शास्त्रीय संगीत की दुनिया के प्रति अपने पूर्वाग्रह छोड़े, साथ ही ऑल इंडिया रेडियो ने और आगे बढ़ कर पेशेवर पारंपरिक गायिकाओं को पहली बार वह सम्मान तथा श्रोता दिलाना शुरू किया, जिनकी वे सचमुच अधिकारिणी थीं, तो हर धर्म, वर्ग तथा उम्र के पेशेवर गायक गायिकाओं के लिये सम्मानजनक वातावरण बना और मध्यवर्ग के युवजनों के लिये शास्त्रीय संगीत शिक्षण संस्थाओं के तहत विधिवत शुरुआती तालीम पाने की राह खुल गई। इन संस्थाओं ने अपने परिमाण के हिसाब से भले ही बहुत सारे नये संगीतज्ञ न भी बनाये हों लेकिन उन्होंने निश्चय ही करोड़ों घरों के भीतर संगीत के शास्त्रीय स्वरूपों की बुनियादी जानकारियाँ पहुँचा कर उनके लिये आम जन के बीच गहरी रुचि और आदर पैदा कर दिया जो आज भी बरकरार है ।

आजादी के बाद जब संगीत घरानों की नई पीढ़ी के कई बच्चे पैतृक धंधा छोड़ कर दुकान वगैरह खोलने की तरफ चल निकले, तब भी दूरदर्शी गुरुद्वय पं. पलुस्कर और भातखंडे के खड़े किये महाविद्यालय और उनसे जुड़े लखनऊ के श्री रातंजनकर और दिल्ली के श्री विनयचंद्र मौदगल्य तथा सुश्री सुमति मुटाटकर, बनारस की प्रेमलता शर्मा सरीखे विद्वान और विदुषियां दीपस्तंभ बन कर खड़े रहे और तमाम बड़े संगीतकार इन संस्थाओं से किसी न किसी रूप में जुड़े; कभी उनके द्वारा आयोजित संगीत के नियमित कार्यक्रमों तथा गोष्ठियों में, कभी अनियतकालीन शिक्षक बन कर। इन सभी ने राज-समाज से कई बार उलझने के बावजूद आज देश भर के मध्यवर्गीय समाज में रागदारी संगीत के बारे में जो सदय समझदारी भरा माहौल बनाया है, उम्मीद है उसे नई तकनीकी से पुष्ट बना कर नई पीढ़ी और भी आगे बढ़ायेगी ।

विदुषी किशोरी अमोनकर ने श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग तथा मदनलाल व्यास को दिये अपने एक साक्षात्कार ('संगीत' पत्रिका के महिला संगीत अंक जनवरी-फरवरी, 1986 में प्रकाशित) में बहुत मर्मस्पर्शी बात कही है : '...यह (संगीत) नादब्रह्म की उपासना का ..स्वर साधना का मंदिर है। ..संगीत अंदर की भाषा है ..अंदर देखने के लिये साधना के अलावा कोई रास्ता नहीं है। ..स्वर क्या चीज़ है ? यह स्वानुभव से आता है, परानुभव से नहीं। सिखाने में गुरु रास्ता दिखाता है, चलना खुद को ही पड़ता है । ..'

संगीत–शिक्षा का ध्रुव सत्य यही है ।

सीसीआरटी - एक परिचय

भारत की बहुरूपी, समृद्ध, जीवंत सांस्कृतिक परम्पराओं एवं औपचारिक शिक्षा पद्धतियों के बीच अन्तर दूर करने हेतु मई, 1979 में सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र (सीसीआरटी) की स्थापना की गई। इसका मुख्य ध्येय तथा उद्देश्य समस्त सांस्कृतिक स्रोतों को साथ रखते हुए शिक्षा पद्धति में औपचारिक व अनौपचारिक शिक्षा के सभी स्तरों को अन्तर्निहित करना है। उदाहरण के तौर पर पारंपरिक कलाओं: चाक पर मिट्टी का कार्य, बांधनी काग़ज के खिलौने समेत हस्तकलाओं का प्रशिक्षण, सांचे बनाना, पुतली कला की विभिन्न विधाएँ और नृत्य एवं संगीत के बहुरंगी रूप को न केवल इतिहास तथा सामाजिक विज्ञान वरन् गणित, रसायन एवं भौतिकी विज्ञान जैसे विषयों के संग शैक्षिक माध्यम के रूप में उपयोग में लाना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कई नवीन योजनाएं विकसित की गईं। कार्यक्रम के स्तर पर शिक्षा प्रशासकों एवं शिक्षक प्रशिक्षकों हेतु नियमित कार्यशालाओं; शिक्षकों हेतु अनुस्थापन एवं पुनश्चर्या पाठ्यक्रम तथा विद्यार्थियों हेतु कार्यशालाओं एवं शिविरों का आयोजन किया जाता है। सांस्कृतिक प्रतिभा तथा विद्वत्ता की पहचान के लिये भारत सरकार की योजनाओं हेतु सीसीआरटी एक मुख्य संस्थान के रूप में कार्य कर रहा है।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सीसीआरटी, सांस्कृतिक सामग्री का संग्रहण व प्रलेखन करता एवं श्रव्य-दृश्य किट तैयार करता है, जो विभिन्न विन्यासों में क्षेत्रीय संस्कृति अथवा विशिष्ट कला रूप के अध्ययन को प्रोत्साहित करता है और जिन लोगों ने इन कला रूपों की रचना की है, उनके विषय में जानकारी देता है।

एक संस्था के रूप में सीसीआरटी ने एनसीईआरटी और राज्यों के स्तर पर एससीईआरटी के साथ एक विस्तृत नेटवर्क (कार्यतंत्र) स्थापित किया है। आज इसके तीन क्षेत्रीय केन्द्र उदयपुर, हैदराबाद तथा गुवाहाटी में हैं। सीसीआरटी ने भारत के शिक्षक एवं विद्यार्थी समुदाय में राष्ट्रीय एकता तथा सांस्कृतिक पहचान के आदर्शों को सुदृढ़ करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समृद्ध तथा विविधतापूर्ण प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक धरोहर की इस धरा पर यह आवश्यक है कि भारत में आज का युवा अपनी तथा दूसरों की

समृद्ध संस्कृति के प्रति एक गूढ़ समझ तथा सराहना की भावना को लेकर पल्लवित हो।

सीसीआरटी के जन्म का श्रेय श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय तथा डा. कपिला वात्स्यायन (जो क्रमशः इसकी प्रथम अध्यक्ष व उपाध्यक्ष थीं) की दूर दृष्टि व प्रयासों तथा आठवें दशक में भारत सरकार के शिक्षा, समाज कल्याण एवं संस्कृति मंत्रालय के सहयोग को जाता है।

सीसीआरटी, भारत सरकार की राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रतिभा खोज छात्रवृत्ति योजना कार्यान्वित करता है, जिसका लक्ष्य विविध कलात्मक क्षेत्रों में विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति प्रदान करना तथा सुविधायें उपलब्ध कराना है। 10 से 14 वर्ष के आयु समूह वाले शिक्षारत बच्चे या पारंपरिक कलारूपों से जुड़े परिवारों के बच्चे इस *राष्ट्रीय सांस्कृतिक छात्रवृत्ति* योजना में भाग लेने के पात्र हैं।

सीसीआरटी संस्कृति मंत्रालय की कुछ अन्य महत्वपूर्ण नीतियों का भी कार्यान्वयन करता है, जैसे संस्कृति पर 400 छात्रवृत्तियों प्रदान करना, जिनमें से प्रत्येक 200 जूनियर तथा सीनियर फेलोशिप में संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर 'गहन अध्ययन/शोध' पर बल दिया जाता है। इसमें सांस्कृतिक अध्ययनों के नये उभरते क्षेत्र भी शामिल हैं।

सीसीआरटी ने संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार की एक नई पहल के अन्तर्गत ''राष्ट्रीय संस्कृति एवं धरोहर प्रबन्धन संस्थान'' योजना पर प्रशिक्षण कार्यक्रम भी आयोजित करने आरंभ किए हैं।

केन्द्र को हाल ही में संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा ''सांस्कृतिक विरासत में युवा नेतृत्व कार्यक्रम'' योजना भी कार्यान्वित करने हेतु सौंपी गई है। योजना का उद्देश्य सामाजिक मूल्यों का विकास करना तथा इसमें देश में समाज के युवाओं की सामुदायिक भागीदारी स्थापित करना।

इसके लक्ष्य एवं उद्देश्यों के बारे में और अधिक जानकारी हेतु इसकी वेबसाइट **www.ccrtindia.gov.in** देखें ।

कमलादेवी
चट्टोपाध्याय
स्मृति
व्याख्यान
शृंखला

सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र
(संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार)
15ए, सेक्टर-7, द्वारका, नई दिल्ली-110075
फोन : +91 11 25309300 | फैक्स : + 91 11 2508 8637
ई-मेल : dir.ccrt@nic.in | वेबसाइट : www.ccrtindia.gov.in

CENTRE FOR CULTURAL RESOURCES AND TRAINING
सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र